जैनाचार का प्राण : अहिंसा

—विदुषी साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी की सुशिष्या
साध्वी अनुपमा (एम. ए.)

अहिंसा और उसका स्वरूप

अहिंसा परमधर्म है। यह जैनधर्माचार के लिए तो प्राणवत् ही है। जैनाचार का विशाल प्रासाद अहिंसा की दृढ़ नींव पर ही आश्वस्तता के साथ आधारित है। अहिंसा मानव की सुख-शान्ति की जननी है। मानव और दानव में अन्तर ही हिंसा-अहिंसा का है। मानव ज्यों-ज्यों हिंसक बनता चला जाता है वह दानवता के समीप होता चला जाता है और दानव ज्यों-ज्यों हिंसा का परित्याग करता है, वह मानवता के समीप आता जाता है। अहिंसा वह नैतिक मार्ग है जिसका अनुसरण व्यक्ति को यथार्थ मानवता के गौरव से विभूषित करता है। अहिंसा का सिद्धान्त व्यापक प्रभावकारी है। अतः अहिंसाव्रतधारी में स्वतः ही अनेकानेक गुण विकसित होते चले जाते हैं और उसके भीतर की मानवीयता पुष्ट होती रहती है। अहिंसा एक ऐसा मानवीय दृष्टिकोण है, जो उसे असाधारण आत्मिक सुख की अनुभूति कराता है। यही सुख उसका चरम लक्ष्य होता है।

वस्तुतः अहिंसा की विराट भूमिका व्यक्ति के मानस को ऐसा विस्तार प्रदान करती है कि वह सहज ही सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् स्वीकार करने लगता है। वह सभी का हितैषी हो जाता है और किसी की हानि करने की कल्पना से भी वह दूर..........बहुत दूर हो जाता है।

'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं'

यह 'सर्वप्राणातिपातविरति' की ऐसी प्रतिज्ञा है, जो मनुष्य को 'अहिंसा-महाव्रती' और जीव मात्र का रक्षक बना देती है। वह किसी की भी हिंसा नहीं करने का संकल्प धारण कर, उसका दृढ़ता के साथ पालन करता है। परिणामतः वह न केवल अन्य जनों की सुख-सृष्टि में योगदान करता है, अपितु स्वयं अपने लिए भी अद्भुत सुख की रचना कर लेता है। उसकी आत्मा राग-द्वेषादि सर्व कलमष एवं दुर्भावों से मुक्त होकर शुद्ध तथा शान्त रहती है, आत्मतोष के अमित सागर में निमग्न रहती है। अहिंसाव्रती के लिए यह एक संयम है और यही अन्य जन के लिए दया और रक्षा का भाव है। कदाचित् इसी भाव-श्लेष के कारण भगवान महावीर ने रक्षा, दया, सर्वभूत क्षेमंकरी आदि का प्रयोग 'अहिंसा' के पर्याय रूप में किया है। एक चिन्तक ने लिखा है—

"अहिंसा आत्मनिष्ठ है, आत्मा से उपजती है और समानता की भावना से पुष्ट होती है। हिंसा की भावना से निवृत्त होने के पीछे अपने अनिष्ट की आशंका अधिक काम करती है। हिंसा से अपना पतन नहीं होता हो, तो शायद ही कोई अहिंसा की बात सोचे।"

यह पृथ्वी ग्रह नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का एक अद्भुत समुच्चय है। विविध रंग-रूप, आकार-आकृति, गुण-धर्मादि के धारक होने के कारण ये समस्त प्राणी वैभिन्न्ययुक्त एवं अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्गों में विभक्त हैं। बाह्य और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर यह वैभिन्न्य स्वीकार करना ही पड़ता है, किन्तु यह एक स्थूल सत्य है। इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्म सत्य और भी है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि विभिन्न प्राणी-वर्गों के घोर असाम्य के समानान्तर रूप में एक अमिट साम्य भी है। सभी प्राणी सचेतन हैं, सभी में आत्मा का निवास है। यह आत्मा सभी में एक सी है। आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी एक से हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त एवं विवेकशील है, तथापि आत्मा की दृष्टि से उसका स्थान भी अन्य प्राणियों के समकक्ष ही है। मनुष्य की कोई अन्य श्रेणी नहीं है। सचेतनता का धर्म मनुष्य का भी है और अन्य प्राणियों का भी। यह चैतन्य जीव-वर्ग में ऐसा व्याप्त है कि इसी आधार पर जीवों को शेष अजीवों से पृथक करके पहचाना जा सकता है। सुख-दुःखादि की अनुभूति चैतन्य का ही परिणाम है। ये अनुभूतियाँ प्राणियों के लिए ही हैं, निर्जीव, जड़ पदार्थों के लिए नहीं, क्योंकि वे चेतनाहीन होते हैं।

समस्त सचेतन जीव दुःख से बचना चाहते हैं और सुखमय जीवन की कामना करते हैं। सुख प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और सुख-प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधक परिस्थितियाँ दुःखानुभव का कारण बनती हैं। जिस प्रकार यह सत्य है कि आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं, सचेतनतावश सभी को सुख-दुःखादि का अनुभव होता है—उसी प्रकार यह भी सत्य है कि सुख अथवा दुःख का अनुभव कराने वाली परिस्थितियाँ भी सभी प्राणियों के लिए एक सी होती हैं। जिन बातों से एक प्राणी को कष्ट होता हैं, उनसे सभी प्राणी कष्टित ही होते हैं। इस प्रकार कोई सुखद विषय सभी के लिए सुखद होता है। इस सम्बन्ध में मनुष्य और इतर जीवों में भेद नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सभी आत्माएँ सुखकामी और दुःख-द्वेषी होती हैं। सुखाकांक्षा आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। श्रमण भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था—

"सभी आत्माएँ सुख चाहती हैं। अतः सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझो। किसी के लिए ऐसा कार्य मत करो, जो तुम्हारे लिए कष्टकारी हो।"

एक अन्य अवसर पर भगवान ने अपने उपदेश में इस सिद्धान्त की सुस्पष्ट विवेचना की थी। उनका कथन था कि—"दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम भी दूसरों के साथ करो।" उन्होंने यह भी कहा कि "जिस दिन तुम अपनी और दूसरों की आत्मा के मध्य भेद को विस्मृत कर दोगे—उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना भी सफल हो जायगी। अपने प्राणों की सुरक्षा चाहने वालों का यह कर्त्तव्य भी है कि वे दूसरों के जीवन-रक्षा सम्बन्धी अधिकार को भी मान्यता दें। यह अहिंसा का मूल मन्त्र है।"

भगवान का अहिंसा सम्बन्धी यह उपदेश मात्र वाचिक ही नहीं था। उनका समग्र जीवन ही मूर्तिमन्त अहिंसा का रूप हो गया है। उन्हें नाना विध कष्ट दिये गये, किन्तु धैर्य और क्षमाशीलता के साथ वे उन सभी को सहन करते रहे। प्रत्याक्रमण का कोई भाव भी उनके मन में कभी उदित नहीं हुआ। अहिंसा की विकटतम कसौटियों पर वे इसी कारण सफल रहे कि वे सदा यह स्वीकार करते थे कि जैसा मैं हूँ, वैसे ही सभी हैं। मुझे किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। यह हिंसा-त्याग का उच्चतम रूप है। सभी प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं और दूसरों की इस अभिलाषा में बाधक नहीं बनना ही मूलतः अहिंसा है।

विभिन्न युगों एवं विचारधाराओं के तत्त्वचिन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या की है। यथा—

तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः

सर्व प्रकार से, सर्व कालों में, सर्व प्राणियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ अभिद्रोह न करना ही अहिंसा है। पातंजल योग के भाष्य में इस प्रकार अहिंसा की समुचित व्याख्या उपलब्ध होती है। वर्तमान शताब्दी में महात्मा गांधी अहिंसा के अनन्य पोषक हुए हैं। गांधीजी ने इस युग में अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सशक्त पुनर्स्थापना की है। यही नहीं, भौतिकता के इस युग में अहिंसा के सफल व्यावहारिक प्रयोग का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है। बापू ने अहिंसा को अपने जीवन में उतारा और पग-पग पर उसका पालन किया। एक स्थल पर अहिंसा के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—"अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव है।" गांधीवाणी में यह विवेचन और भी स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित हुआ है। वे लिखते हैं—

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।"

अहिंसा के सभी तत्त्ववेत्ताओं ने प्राणिमात्र को समान माना है। किसी भी आधार पर अमुक प्राणी को किसी अन्य की अपेक्षा छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता, महत्त्वपूर्ण अथवा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म जीवों की प्राणी-हानि को भी कभी अहिंसा या क्षम्य नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टि से हाथी भी एक प्राणी है और चींटी भी एक प्राणी है। दोनों समान महत्वशाली हैं। दोनों में जो आत्मा है वह एक-सी है—दैहिक आकार के विशाल अथवा लघु होने से आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। समस्त प्राणियों के रक्षण का विराट भाव ही अहिंसा का मूलाधार है। ध्यातव्य है कि सूक्ष्म जीवों की हानि में हिंसा की न्यूनता और बड़े जीवों की हानि में हिंसा की अधिकता रहती हो—ऐसा भी नहीं है। हिंसा तो हिंसा ही है। आत्मा-आत्मा में ऐक्य और अभेद की स्थिति रहती है। अतः प्राणी के दैहिक आकार प्रकार या जगत के लिए किसी प्राणी का अधिक अथवा कम महत्वपूर्ण होना किसी की प्राण-हानि को अहिंसा नहीं बना सकता। प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, सभी के प्रति हितैषिता एवं बन्धुत्व का भाव, सभी के साथ सह अस्तित्व की स्वीकृति ही किसी को अहिंसक बना सकती है। इस आधार पर करणीय और अकरणीय कर्मों में भेद करना और केवल करणीय को अपनाना अहिंसाव्रती का अनिवार्य कर्तव्य है। यह एक प्रकार का संयम है, जिसे भगवान महावीर ने 'पूर्ण अहिंसा' की संज्ञा दी है—

'अहिंसा निउणा दिट्‌ठा सव्वभूएसु संजमो'

अहिंसा का यह पुनीत भाव मानव को विश्व-बन्धुत्व एवं जीव-मैत्री के महान गुणों से सम्पन्न कर देता है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का निम्न साक्ष्य भी उल्लेखनीय है—

'विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'

अर्थात्—मैं समूचे विश्व को मित्र की दृष्टि से देखूं। सभी शास्त्रों में अहिंसा को मानवता का मूल स्वीकारा गया है और सुखी जगत की कल्पना को क्रियान्वित करने का आधार माना गया है। अहिंसा व्यक्ति द्वारा स्व और परहित की सिद्धि का महान उपाय है। जैनधर्म में तो इस अत्युच्चादर्श का मूर्तिमन्त स्वरूप ही दीख पड़ता है। आचारांग सूत्र में उल्लेख है कि 'सब प्राणी, सब भूत, सब जीव को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उन पर प्राणापहर उपद्रव करना चाहिए।' वस्तुतः प्रस्तुत उल्लेख को अहिंसा से जोड़ा नहीं गया है, किन्तु व्यापक दृष्टि से इसे अहिंसा का स्वरूप अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में अहिंसा का एक स्पष्ट चित्र इस प्रकार उभर उठा है—

सव्वेहि अणुजुत्तीहिं मतिमं पडलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य अंतो सव्वे अहिंसया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एयं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव एतावंत विजाणिया ॥

अर्थात्—बुद्धिमान सब युक्तियों द्वारा जीव का जीवपन सिद्ध करके यह जाने कि सब जीव दुख के द्वेषी (जिन्हें दुख अप्रिय है) हैं तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा नहीं करे। ज्ञानी पुरुषों का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते।

'सूत्रकृतांग' का उक्तांश अहिंसाव्रत-पालन की दिशा में निश्चित मार्गदर्शन देता है। अहिंसा का आचरण करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति ही यथार्थ में बुद्धिमान होता है। ऐसे बुद्धिमान के लिए अपेक्षित है कि—

—सर्वप्रथम तो वह सभी जीवों के समत्व को स्वीकारे और इस आधार पर बिना किसी प्रकार का भेद करते हुए सभी जीवों को समान रूप से महत्वपूर्ण समझे।

—उसके लिए यह तथ्य हृदयंगम करना भी आवश्यक है कि सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं और दुःख सभी के लिए अप्रिय होता है।

—इन बातों को भली-भाँति समझकर उसे (बुद्धिमान को) किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

'तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अनियाण संवुडे।'

सूत्रकृतांग के प्रस्तुत अंश में अहिंसा की व्याख्या और भी सूक्ष्मता के साथ हुई है, जिसमें व्यक्त किया गया है कि मन, वचन और काया इन तीनों से किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए। इस मान्यता को और भी समग्रता की ओर ले जाने की दृष्टि से इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि—कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, वाचा, कर्मणा प्राणिमात्र को कष्ट न पहुँचाना ही पूर्ण अहिंसा है। इसी आशय का प्रतिबिम्ब 'आवश्यक सूत्र' में भी मिलता है—

'जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेण वायाए काएणं न करेमि न करावेमि करतंपि न समणुजाणामि'

प्रस्तुत उक्ति में ३ योग—मन, वचन और काय एवं ३ करण—करना, करवाना एवं अनुमोदन करना—की चर्चा है और कहा गया है कि मैं इनमें से किसी के द्वारा किसी की भी हिंसा नहीं करूँ। इन ३ योग और ३ करण के संयोग से ६ योग-करण स्थितियाँ बनती हैं, जो निम्नानुसार हैं—

(क) **मन से**—(१) हिंसा न करना (२) हिंसा नहीं करवाना (३) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ख) **वचन से**—(४) हिंसा न करना (५) हिंसा नहीं करवाना (६) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ग) **काय से**—(७) हिंसा न करना (८) हिंसा नहीं करवाना (९) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

ये ९ मार्ग हैं, जिनमें से किसी का भी अनुसरण करने से व्यक्ति हिंसा का आचरण कर लेता है। इनसे बचकर ही कोई पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकता है। हिंसा की अति सूक्ष्मतम अवस्थाओं को भी जैनाचार ने अनुपयुक्त माना है। किसी अन्य जन द्वारा की गई हिंसा के प्रति यदि कोई व्यक्ति केवल समर्थन का भाव भी रखता है—चाहे उसे वह व्यक्त न भी करे—तो भी यह समर्थक व्यक्ति द्वारा की गई हिंसा होगी। जैन धर्म अहिंसा का इस गहनता के साथ पालन किये जाने पर बल देता है। डा० वशिष्ट नारायण सिन्हा ने इस स्वरूप को जैन दृष्टि से अहिंसा का वास्तविक और समग्र स्वरूप स्वीकारा है।

अहिंसा : निषेधमूलक भी और विधिमूलक भी

भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से 'अहिंसा' शब्द-रचना से निषेधात्मक विचार प्रकट होता है। अर्थात्—हिंसा का न करना ही अहिंसा है। स्पष्ट है कि किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट अथवा हानि पहुँचाना हिंसा है और ऐसे कृत्यों का परि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग ही अहिंसा है। अर्थात् शब्द का रूप है—अ +हिंसा। शब्द-रचना की दृष्टि से भले ही यह विवेचन तर्कसंगत लगता हो, किन्तु इससे जैनाचार की व्यापक एवं सूक्ष्म अहिंसा का स्वरूप उजागर नहीं हो पाता। वस्तुतः अहिंसा का स्वरूप इसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। निषेधात्मक दृष्टिकोण तो बड़ा सीमित है कि किसी को कष्ट मत पहुँचाओ, जबकि अहिंसा की विशाल परिधि में यह भी प्राधान्य के साथ सम्मिलित किया जाता है कि सभी जीवों के लिए यथासम्भव रूप में सुख के कारण बनो। अर्थात् अहिंसा का सिद्धान्त न केवल निषेधमूलक, अपितु विधियुक्त भी है। अहिंसा निवृत्ति (न करने) की प्रेरणा ही देती है—ऐसा विचार भ्रामक एवं अपूर्ण है। इसमें प्रवृत्ति का पक्ष भी है कि सभी के सुख के लिए कुछ करते रहो।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं किसी के प्राणों की हानि नहीं करना (निवृत्ति या निषेध) तो अहिंसा है ही, किन्तु जब किसी के प्राणों को किसी अन्य के कार्य से हानि का संकट हो, तब भी अहिंसक व्यक्ति का कुछ दायित्व बनता है। उसे चाहिये कि संकटग्रस्त प्राणियों की रक्षा करे। यह रक्षा करना प्रवृत्ति है, विधि है। इसके अभाव में अहिंसा का स्वरूप मर्यादित, सीमित और अपूर्ण ही रहेगा। अस्तु न मारने मात्र में ही नहीं, अपितु रक्षा भी करने में पूर्ण अहिंसा का वास्तविक स्वरूप निखरता है। यहाँ यह तथ्य भी विशेषतः ध्यातव्य है कि निवृत्ति अथवा निषेध अकेला जिस प्रकार अहिंसा का समग्र स्वरूप नहीं है—उसी प्रकार प्रवृत्ति या विधि अकेली भी अहिंसा के समग्र स्वरूप को व्यक्त करने में असमर्थ रहती है। वस्तुतः निषेध एवं विधि दोनों पक्ष परस्पर पूरक हैं और दोनों मिलकर ही अहिंसा की विराट भाव भूमि का निर्माण कर पाते हैं। केवल निषेधात्मक रूप में अहिंसा का निर्वाह कोई कठिन कार्य नहीं होता। 'कुछ' नहीं करना तो सुगम है, केवल कुछ संयम की हो अपेक्षा इसमें रहती है। यह दुष्कर नहीं, श्रमासाध्य तो कदापि नहीं होता। वह मनोवृत्ति मनुष्य को अकर्मण्य बना देती है। वह कुछ भी करने से कतराने लगता है। यह भी भय रहता है कि केवल निषेधमूलक अहिंसा का निर्वाह करने वाला व्यक्ति एकान्त-सेवी एवं जगत से तटस्थ होकर मानवेतर प्राणी की भांति जीवन-यापन करने लग जायगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के जीवन को अहिंसा की कसौटी पर कसना भी कठिन हो जायगा। किसी भी अहिंसक का गौरव तो इसमें निहित रहता है कि वह ऐसे वातावरण में भी रहे, जिसमें हिंसायुक्त कर्मों की प्रेरणा मिलती हो, फिर भी उससे प्रभावित हुए बिना वह पूर्णतः अहिंसक ही बना रहे।

इस प्रकार अहिंसा को इसकी व्यापक भावभूमि के साथ समझना ही समीचीन है एवं उसी व्यापक रूप में उसका आचरण ही वास्तव में किसी व्यक्ति को अहिंसक होने का गौरव प्रदान कर सकता है। प्रवृत्तिमूलक अहिंसा से ही व्यक्ति-मानस की सच्ची हितैषिता एवं बन्धुत्व का परिचय मिलता है और यही वह पक्का आधार है, जिससे किसी का अहिंसापूर्ण आचार पहचाना जा सकता है। यह प्रवृत्ति मूलक पक्ष अहिंसा की गरिमा को न केवल विकसित करता है, अपितु यह उसका निर्माता भी है। कारण यह है कि अहिंसा को जैनाचार में केवल निषेधमूलक स्वीकार ही नहीं किया गया है।

अहिंसा की कसौटी

अहिंसा का मूलतत्त्व जब प्राणिमात्र के लिए सुख का कारण बने रहना है—किसी भी प्राणी का घात न करना है, तो यह प्रश्न उभर आता है कि क्या किसी के लिए इस प्रकार का अहिंसात्मक आचरण अपने समग्ररूप में सम्भव है? जीवन की नाना प्रवृत्तियों और कर्मों में ऐसे अगणित प्रसंग बन जाते हैं, जब व्यक्ति अन्य प्राणियों के लिए कष्ट का कारण, यहां तक कि प्राणहंता बन जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अहिंसाव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करने का अभिलाषी होते हुए भी उससे ऐसे कार्य हो ही जाते हैं और इन कार्यों तथा इनके परिणामों से भी वह अवगत नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ, चलने-फिरने में ही अनेक जीवों का हनन हो जाता है। तो क्या वह अहिंसाव्रत से भ्रष्ट समझा जाना चाहिए? क्या उसका जीवन पापमय है?

कहा जाता है कि इसी प्रकार की समस्या भगवान महावीर के समक्ष प्रस्तुत करते हुए जिज्ञासु शिष्य गौतम ने जीवन को पापरहित करने का उपाय जानना चाहा था। उत्तर में भगवान ने अपने उपदेश में कथन किया कि जीवन की नाना-प्रवृत्तियाँ न केवल स्वाभाविक, अपितु अनिवार्य भी हैं, जिन्हें मनुष्य को करना ही होता है। इन प्रवृत्तियों से हिंसा-अहिंसा का प्रश्न भी जुड़ा रहता है, किन्तु ये भिन्न प्रवृत्तियां अपने आप में न पाप हैं न पुण्य हैं। विवेक—यतना ही इनकी कसौटी है। ये सारे कार्य यदि विवेक के साथ, सावधानी के साथ, यतना के साथ किये गये हैं तो कर्त्ता का जीवन स्वयं अपने लिए और जगत के लिए भी सुखदायक होगा। इसके विपरीत अविवेक या अयतना के साथ यापित जीवन दुःखमूलक होगा। यही अविवेक पाप का कारण होगा, हिंसा का आधार होगा। इस प्रकार विवेक और अहिंसा का घनिष्ठ नाता है। जहाँ विवेक है, वहीं अहिंसा भी होगी।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा—

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है वही हिंसा है। तत्वार्थसूत्र में उमास्वाति का अहिंसा विषयक प्रस्तुत सूत्र यह इंगित करता है कि प्राणिमात्र के रक्षण के भाव में ही अहिंसा निहित होती है।

अहिंसा के रूप

मोटे तौर पर हिंसा का अभाव ही अहिंसा है। अतः अहिंसा की स्पष्ट समझ के लिए हिंसा का स्वरूप जानना अनिवार्य है। जैन-चिन्तन में हिंसा के दो रूप माने गये हैं—

(१) भावहिंसा (२) द्रव्यहिंसा

भावहिंसा का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मन से है। हिंसा का यह मानसिक स्वरूप है, जो उसकी भूमिका तैयार करता है। व्यक्ति अन्य प्राणियों की हानि अहित करने का विचार मन में ले आये, चाहे वह अहित कर पाये अथवा नहीं—यह उसके द्वारा की गई भावहिंसा कहलाती है। हिंसा का यह ऐसा रूप है, जो अन्य प्राणियों के लिये अहितकर चाहे न हो, किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिये घोर अनिष्टकारी होता ही है। राग-द्वेष, मोह, लोभ, क्रोधादि के भाव इस प्रकार की मानसिक हिंसा के उत्प्रेरक होते हैं और ये आत्मा को कलुषित एवं पतित कर देते हैं। यह हिंसा आत्म-विनाशक होती है। अहिंसा की साधना के लिए सर्वप्रथम भावहिंसा पर ही नियन्त्रण करना होता है। यही नियन्त्रण संयम है। इसके लिए अपनी कुमनोवृत्तियों का दमन करना होता है। इस सन्दर्भ में भगवान महावीर स्वामी का उपदेश है कि बाहरी शत्रुओं से नहीं, अपने भीतरी शत्रुओं से युद्ध करो और विजयी बनो। इस विजय का उपहार होगा—संयम और उसकी अभिव्यक्ति अहिंसा के रूप में होगी। यह संयम अहिंसात्मक आचरण द्वारा स्वयं संयमी के जीवन को उन्नत और सुखमय बनाता है।

द्रव्यहिंसा का परिणाम भौतिक या वास्तविक रूप में प्रकट होता है। मानसिक हिंसा की भाँति वह विचार तक मर्यादित न रहकर व्यवहार में परिणत हो जाता है। मन में कषाय का उदय होना भावहिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्यहिंसा है—स्थूल हिंसा है। प्रमादवश किसी का प्राणापहरण ही हिंसा है। अर्थात् कषाय-भाव के साथ किया गया अहितकर कार्य ही हिंसा है। यदि वास्तव में अहित हो गया है, किन्तु उसके मूल में कषाय या प्रमाद नहीं है, तो वह हिंसा नहीं है। वह अहित 'हो गया' है;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्ता द्वारा किया नहीं गया है। भावहिंसा और प्रमाद अवस्था के अभाव में यदि किसी प्राणी की हिंसा हो गयी है, तो वह पाप की परिधि से परे है, केवल द्रव्यहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु का कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—

"अपने नियमों के साथ यदि कोई साधक चलने के लिये विवेकपूर्वक पाँव उठाये, फिर भी यदि कोई जीव पाँवों तले आकर नष्ट हो जाय, तो साधक को इसका पाप नहीं होगा। कारण यह है कि साधक की भावना निर्मल थी, वह अपने नियमों में पूर्णतः सजग था।"

सारांश यह है कि अहिंसा का निर्वाह तभी संभव है जब हम भावहिंसा से बचते रहें। भावहिंसा अकेली ही पाप के लिए पर्याप्त है। द्रव्यहिंसा भी पाप तभी बनेगी जब वह 'केवल' द्रव्यहिंसा न रहकर भावहिंसा के परिणाम रूप में होगी। भावहिंसा और द्रव्यहिंसा के आधार पर हिंसा को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है—

(१) **भावरूप में और द्रव्यरूप में**— जहाँ हिंसा का कुमनोभाव भी हो और बाह्यरूप में भी हिंसा की जाय। इस स्थिति में हिंसा का वास्तविक और घोर रूप होता है।

(२) **भावरूप में हिंसा किन्तु द्रव्यरूप में नहीं**— कुमनोभाव या कषाय तो हो, किन्तु उसकी क्रियान्विति किन्हीं कारणों से संभव न हो पाय। यह भी हिंसा ही है, जिससे मनुष्य का अपना ही अहित होता है।

(३) **भावरूप में नहीं किन्तु द्रव्यरूप में हिंसा**— जहाँ हिंसा तो हो गयी हो, किन्तु कर्त्ता का प्रमाद या कषाय उसके पीछे नहीं रहा हो। वास्तव में यह हिंसा नहीं मानी जाती। यह भी अहिंसा का ही एक रूप है।

(४) **न भावरूप में और न द्रव्यरूप में**— जहाँ न तो कषाय ही रहा हो और न ही बाह्यरूप में हिंसा हुई हो। यह सर्वथा अहिंसा ही है।

आज विश्वभर में समस्त नैतिकताएँ विघटित होती चली जा रही हैं, वे व्यवहार-क्षेत्र से निष्कासित होकर मात्र पठन-पाठन की विषय रह गयी हैं। यदि यही क्रम निरन्तरित रहा, तो सम्भवतः नैतिकताएँ मात्र पुस्तकों में ही विद्यमान रह जायेंगी। कदाचित् उनकी ओर ध्यान देने का श्रम भी कोई नहीं करेगा। अहिंसामार्ग भी इसका अपवाद नहीं है, किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि नैतिकताओं की उपेक्षा ने मनुष्य को मानवतारहित बना दिया है, उस पर अपार दुःख-घटाएँ मंडरा रही हैं और आतंक का बोलबाला हो रहा है। यदि मनुष्य अहिंसा को दृढ़तापूर्वक अपना ले तो संसार का रूप ही परिवर्तित हो जायेगा। घृणा, द्वेष, पर-अहित, लोभ, मोह आदि विकार अहिंसा के अपनाव से नष्ट हो जायेंगे और सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य हो जायेगा। व्यक्ति अहिंसा से अपना भी और जगत् का भी कल्याण करेगा। आवश्यकता इसी बात की है कि मनुष्य अपने में अहिंसा के प्रति आस्था का भाव जागृत करे। अहिंसा का जो विराट रूप है—वह व्यवहार्य है, उसे अपनाया जा सकता है और उसके सुपरिणाम सुनिश्चित हैं— यह भाव जब तक मनुष्य के मन में सबल नहीं होगा, वह अहिंसा को कोरा सिद्धान्त मानता रहेगा और इस सुख की कुञ्जी से दूर पड़ा रहेगा।

वस्तुतः अहिंसा को अपनाने के मार्ग में कोई जटिलता नहीं है। आत्म-नियन्त्रण या संयम से यह मार्ग सुगम हो जाता है। अहिंसा के सहायक भावों को सबल बनाना और विरोधी भावों की उपेक्षा करना ही एक प्रकार से यह संयम है। जीव मैत्री, करुणा, पर-गुण-आदर, माध्यस्थ (विपरीत वृत्ति वालों पर भी क्रोध न करना) आदि ऐसे ही अहिंसा-सहायक भाव हैं, जिनके सतत अभ्यास से मनुष्य अहिंसा महाव्रती हो सकता है। इसके लिए उसे साथ ही साथ क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से भी स्वयं को मुक्त रखना होगा। क्षमा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि उपर्युक्त कषायों के सशक्त उपचार हैं। इनका अभ्यास अहिंसा-मार्ग के अवरोधों को दूर कर देता है और मनुष्य को अहिंसाव्रती बनाकर उसे स्व-जीवन एवं जगत के कल्याण के लिए समर्थ कर देता है।

गृहस्थ की अहिंसा

हिंसा न करना—अहिंसा है। यह हिंसा जो अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने अथवा उनके प्राण-अपहरण से हो जाती है—उसके पीछे कर्ता का प्रयोजन रहा है अथवा नहीं—इस आधार परहिंसा ४ प्रकार की होती है—

(१) संकल्पी हिंसा
(२) उद्योगी हिंसा
(३) आरम्भी हिंसा
(४) विरोधी हिंसा

किसी जीव का कोई अपराध न हो, हमारे मन में उसके प्रति क्रोध या प्रतिशोध का भाव न हो, तथापि जान-बूझकर हम उसका प्राण-हरण करें—यह संकल्पी हिंसा है। उस दशा में मनुष्य के मन में जीव का वध करने का स्पष्ट उद्देश्य होता है। आखेटक शस्त्रादि से सज्जित होकर, वन में जाकर वन्य प्राणियों का शिकार करता है अथवा वधिक निरीह भेड़-बकरियों का वध करता है। यह संकल्पी हिंसा कहलाती है। आजीविका के लिए मनुष्य को नाना प्रकार से उद्योग-व्यवसायादि करने पड़ते हैं। कोई खेती करता है, तो कोई कल-कारखानों में काम करता है, कोई सैनिक हो जाता है तो कोई व्यापार करता है। इन विभिन्न जीविका-साधनों—खेती, श्रम, युद्ध, व्यापार आदि को अपनाने में मनुष्य से जो हिंसा जाने-अनजाने में हो जाती है—वह उद्योगी हिंसा है। जीवन के अति सामान्य क्रिया-कलाप सम्पन्न करने—जैसे भोजन तैयार करने आदि में जो हिंसा हो जाती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है और इसी प्रकार अपनी अथवा दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा कहलाती है।

जैसा कि अन्यत्र हमने विवेचित किया है, जैन-धर्मानुसार समस्त जीव दो वर्गों में विभक्त हैं—स्थावर एवं त्रस। जो जीव हमें चलते-फिरते स्पष्टतः दिखाई देते हैं, वे त्रस हैं। इसके विपरीत नग्न चक्षुओं से जो जीव साधारणतः दिखाई नहीं देते, होते अवश्य हैं किन्तु अति सूक्ष्म होते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं जैसे वायु, मिट्टी, जल आदि के जीव। विभिन्न उपकरणों की सहायता से इन्हें देखा भी जा सकता है। गृहस्थ श्रावक स्थावर जीवों की रक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। इस निमित्त से वह अनावश्यक रूप में मिट्टी नहीं खोदता, पानी को खराब नहीं करता आदि साव-धानियाँ रखता है। इसी प्रकार वनस्पतियों को न काटना, अनावश्यक रूप से अग्नि प्रज्वलित न करना, हवा को विलोड़ित न करना आदि भी अन्य प्रकार की सावधानियाँ हो सकती हैं। त्रस जीवों का जहाँ तक सम्बन्ध है गृहस्थ उनकी संकल्पी हिंसा का परित्याग करता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के परित्याग में मनुष्य की कोई विशेष हानि होती, न यह दुष्कर है और न इसके कारण कोई विशेष अभाव उत्पन्न होता है।

संकल्पी हिंसा के पीछे मनोविनोद (शिकार), मांसाहार प्राप्त करना आदि जैसे तुच्छ उद्देश्य निहित होते हैं। इस दृष्टि से जीवन को विपरीत रूप से प्रभावित करने का भय संकल्पी हिंसा के त्याग में नहीं होता। ये ऐसे प्रयोजन नहीं हैं,जिनके बिना जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता हो। मनोविनोद के भी अन्य अनेक स्रोत हैं और आहार की भी कोई कमी नहीं है। मांसाहार के परित्याग से कोई अभाव नहीं उत्पन्न होता। विभिन्न प्रकार के अन्न, फल, वनस्पति आदि मनुष्य के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक आहार के रूप में इस धरती पर उपलब्ध हैं। माँस मनुष्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृतिक आहार नहीं है। मनुष्य के दाँतों और आँतों की बनावट से भी यह ज्ञात होता है कि प्रकृति ने उसे मांसाहारी नहीं बनाया है। धर्म के नाम पर भी प्रायः संकल्पी हिंसा होते देखी जाती है। देवियों को प्रसन्न करने के लिए अपनी आराधना का एक अनिवार्य तत्व मानते हुए शाक्त जन निरीह पशुओं—भेड़, बकरे, भैंसें आदि की बलि देते हैं। नृशंसतापूर्वक उनका वध कर दिया जाता है। कहीं-कहीं तो नरबलि भी दी जाती है। इस प्रसंग में यही कहना उपयुक्त होगा कि यह हिंसक व्यापार यथार्थ में किसी आराधना का भाग नहीं हो सकता। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का यह न तो कोई साधन है और न ही देवी-देवता ऐसे कार्यों से प्रसन्न हो सकते हैं। यह मात्र अन्ध-विश्वास है, जो दुर्बल निरीह प्राणियों के विनाश का कारण बन जाता है। गृहस्थों, विशेषतः जैन गृहस्थों के लिए यह अनिवार्य है कि वे किसी भी परिस्थिति में स्वाद तथा उदर पूर्ति के लिए, मनोरंजन के लिए अथवा धर्म के नाम पर भी किसी प्राणी का घात न करें।

यहाँ एक आक्षेप पर भी विचार करना उपयुक्त होगा। कुछ कुतर्की यह कह सकते हैं कि जैन धर्मानुसार मांस-भक्षण वर्जित है, यह धर्म वनस्पति में भी सजीवता स्वीकार करता है—ऐसी दशा में शाकाहार भी एक प्रकार से मांसाहार ही होता है और शाकाहार को भी वर्जित माना जाना चाहिए इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारा ध्यान इस ओर केन्द्रित होना चाहिए कि वनस्पति में मांस नहीं होता। देह संरचना के लिए आवश्यक सात धातु माने गये हैं। सप्त धातुमय कलेवर ही मांस है और हमें यह जानना चाहिए कि वनस्पति में सप्त धातु नहीं होते। निरामिष जनों के लिए शाकाहार में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। केवल तर्क के लिए ही यह तर्क दिया जाता है कि शाकादि में भी सजीवता के कारण मांस होता है। कतिपय व्यक्ति मांसाहार को उस उवस्था में आपत्तिजनक नहीं मानते, जबकि वे स्वयं मांस-प्राप्ति के लिए किसी जीव का घात नहीं करते हों। अर्थात् वधिक द्वारा वध किये गये पशु के माँस-भक्षण में वे किसी हिंसा को स्वीकार नहीं करते। ऐसी मान्यता भी भ्रामक है। हिंसा यदि स्वयं उस व्यक्ति ने नहीं की तब भी वह वधिक के लिए हिंसा का प्रेरक अवश्य रहा है। उसने हिंसा करवाई है। ऐसी दशा में वह अहिंसक कैसे हो सकता है? साथ ही मरण के तुरन्त पश्चात मांस में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। मांसभक्षण में उनकी हिंसा तो होती ही है। फिर हमारा ध्यान मांसाहारी होने के दूरगामी परिणामों की ओर भी जाना चाहिए। मांसाहार से एक प्रकार की कुबुद्धि पैदा होती है जो व्यक्ति को अन्य जीवों के प्राणघात के लिए उत्तेजित करती रहती है। वह आज नहीं है तो कल अवश्य ही प्रत्यक्ष हिंसक भी बन जाता है। सृष्टि के प्राकृतिक रूप से जितने मांसाहारी जीव हैं वे सभी हिंसक भी हैं, जैसे सिंह।

यह तो हुई चर्चा संकल्पी हिंसा की, जिसमें त्रस जीवों के घात का प्रसंग रहता है। जैसा कि वर्णित किया जा चुका है—इस प्रकार की हिंसा का परित्याग प्रत्येक गृहस्थ के लिए सुगम एवं सम्भाव्य है। गृहस्थ के लिए उद्योगी हिंसा का सर्वथा परित्याग सम्भव नहीं हैं। व्यक्ति को अपने और अपने आश्रितों के जीवन-निर्वाह के लिए जीविका के किसी उपाय को अपनाना ही पड़ता है। ऐसी दशा में यथाव्यवसाय कुछ न कुछ हिंसा हो जाने की आशंका बनी ही रहती है। तथापि गृहस्थ को विचारपूर्वक ऐसे कार्य को अपनाना चाहिए जिसमें अन्य जीवों को कम से कम कष्ट पहुँचे। यह तो उसके लिए शक्य है ही। यदि इस विचार के साथ गृहस्थ अपने उद्यम का चयन करता है, तो उसमें होने वाली दुर्निवार हिंसा क्षम्य कही जा सकती है। आरम्भी हिंसा के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ को भोजन भी तैयार करना पड़ता है, जल का प्रयोग भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना पड़ता है, विचरण भी करना ही पड़ता है। इन सामान्य व्यापारों में जो स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है, उससे भी वह सर्वथा बचा नहीं रह सकता। इस सन्दर्भ में भी विवेकपूर्वक गृहस्थ को इस विधि से कार्य सम्पन्न करने चाहिए कि यह हिंसा यथासम्भव रूप से न्यूनतम रहे।

गृहस्थ जनों के लिए विरोधी हिंसा का सर्वथा परित्याग भी इसी प्रकार पूर्णतः शक्य नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ इतना अवश्य कर सकता है, और उसे ऐसा करना चाहिए कि वह किसी से अकारण विरोध न करे। किन्तु यदि विरोध की उत्पत्ति अन्य जन की ओर से उसके विरुद्ध हो—तो उसे अपनी रक्षा का प्रयत्न करना ही होगा। उस पर रक्षा का दायित्व उस समय भी आ जाता है, जब कि दुर्बल जीव पर प्राणों का संकट हो और वह उससे अवगत हो। स्वयं बचना और अन्य को बचाना दोनों ही उसके लिए अनिवार्य हैं। अहिंसा की दुहाई देते हुए ऐसे अवसरों पर आत्म-रक्षा का प्रयत्न न करते हुए आक्रमण को झेलते रहना या दुबककर घर में छिप जाना—अहिंसा का लक्षण नहीं है। यह तो मनुष्य की कायरता होगी जिसे वह अहिंसा के आचरण में छिपाने का प्रयत्न करता है। ऐसा आचरण अहिंसक जन के लिए भी समीचीन नहीं कहा जा सकता। अहिंसा कायरों के लिए नहीं बनी, वरन् वह तो धीरों और वीरों का एक वास्तविक लक्षण है। ऐसा माना जाता है कि ऐसी अहिंसा (कायरतामूलक) की अपेक्षा तो हिंसा कहीं अधिक अच्छी होती है। अहिंसा तो निर्भीकता उत्पन्न करती है। जो निर्भीक है वह कायरता का आचरण कर ही नहीं सकता। अहिंसा और शौर्य दोनों ऐसे गुण हैं जो आत्मा में साथ-साथ ही निवास करते हैं। शौर्य का यह गुण जब स्वय आत्मा के द्वारा ही प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा के रूप में व्यक्त होता है और जब काया द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है, तो वह वीरता कहलाने लगती है।

जैन धर्म पर आई विपत्ति को जो मूक दर्शक बनकर देखता रहे, उसका प्रतिकार न करे—वह सच्चा अहिंसक जैनी नहीं कहला सकता। धर्म-रक्षण के कार्य को हिंसा की संज्ञा देना भी इसी प्रकार की कायरता मात्र है। ऐसा ही देश पर आई विपत्ति के प्रसंग में समझना चाहिए। यह सब रक्षार्थ किये गये उपाय हैं। रक्षा का प्रयत्न न करने में अहिंसा की कोई गरिमा नहीं रहती। अहिंसा तेजरहित नहीं बनाती, वह अपना सब कुछ नष्ट करा देना नहीं सिखाती। अहिंसा दास बनने की प्रेरणा भी नहीं देती। इतिहास साक्षी है कि जब तक भारत पर अहिंसा-व्रती जैन राजाओं का शासन रहा, वह किसी भी विदेशी आक्रान्ता के समक्ष नतमस्तक नहीं हुआ, किसी के अधीनस्थ नहीं रहा। अहिंसा प्रत्येक स्थिति में मनुष्य के चित्त को स्थिर रखती है, कर्त्तव्य का बोध कराती है और उस कर्त्तव्य पर उसे दृढ़ बनाती है। यही अहिंसा गृहस्थ को आत्म-गौरव से सम्पन्न बनाती है, उसे निर्भीक और वीर बनाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org